

पश्चिम बंगाल के नतीजे: हार जीत तो मुस्लिम वोटर ही तय करते हैं



पश्चिम बंगाल के चुनाव परिणामों का विश्लेषण करने वाला लगभग हर विद्वान एक बात ज़रूर रेखांकित कर रहा है कि मुसलमानों ने एकजुट होकर ममता बनर्जी को वोट दिया। इनमें से कुछ दबी जुबान से यह संकेत भी कर जा रहे हैं कि इस बार मुसलमानों ने बिहार वाली ग़लती नहीं दोहराई और अपने वोट टूटने नहीं दिए। गए साल बिहार में ओवैसी की मजलिस ने सीमांचल में महागठबंधन के वोटों में सेंध लगाई थी। इस बार पश्चिम बंगाल में वैसा कोई अधिकृत महागठबंधन नहीं था, अलबत्ता कांग्रेस और वाम ने शून्य पर सिमटने के बावजूद जिस तरह से मुतमईन होकर चुनाव परिणामों का स्वागत किया, उससे आप कह सकते हैं कि महागठबंधन ऊपर से दिखलाई नहीं देता था, किंतु भीतर ही भीतर अंतर्धारा की तरह उपस्थित अवश्य था। मन मिले हुए थे। माहे-रमज़ान में कांग्रेस और वाम ने खुशी-खुशी अपने अरमानों की शहादत देकर सवाब कमाया !

जब मैं चुनाव-विश्लेषणों में ये पंक्तियाँ पढ़ता हूँ कि मुसलमानों ने एकजुट होकर ममता को वोट दिया तो मैं स्वयं से पूछता हूँ कि इसका क्या अर्थ है। क्या ये साधारण पंक्तियाँ हैं? क्या इस बात को सहज नज़रअंदाज़ किया जा सकता है कि एक धर्मनिरपेक्ष देश में एक समुदाय एकजुट होकर वोट दे रहा है? और अगर वैसा है तो दूसरी तरफ़ ध्रुवीकरण नहीं होगा, वैसी खुशफ़हमी पालने का क्या कारण होना चाहिए? और अगर ध्रुवीकरण होता है तो उस पर खेद जताने की भी क्या गुंजाइश रह जाती है? क्या ये तमाम चीज़ें सामुदायिक-मनोविज्ञान के सामान्य-तर्क में नहीं आती हैं? या भारत-देश सामुदायिक-मनोविज्ञान से नहीं क़ौमी एकता के एक ऐसे कल्पित-आदर्श से संचालित होता है, जिसका दर्शनीय अंत सन् सैंतालीस में ही समारोहपूर्वक हो गया था?

जब से मैंने होश सम्भाला, चुनावों- विशेषकर उत्तर और उत्तर-पूर्व भारत के चुनावों- के विश्लेषणों में यह वाक्य मैंने ज़रूर सुना कि इस बार मुसलमानों ने किसको वोट दिया। या इस बार मुसलमान किसको वोट देंगे। कभी-कभी मालूम होता है कि भारत-देश में चुनाव इसीलिए होते हैं कि मुसलमानों का मिज़ाज जाना जा सके कि वो क्या पसंद करते हैं और क्या नहीं। साल 1996 तक मैं समाचार-पत्रों के संसार से जुड़ चुका था। वो एक अभूतपूर्व चुनावी दौर था। 96 से 99 के दौरान तीन मध्यावधि चुनाव हुए और चार प्रधानमंत्री बदले। दूरदर्शन पर बहसें चलती रहतीं। बहसें घूम-फिरकर एक ही बिंदु पर आ जातीं कि मुसलमान अटल बिहारी वाजपेयी को वोट नहीं देंगे और सेकुलर पार्टियाँ भारतीय जनता पार्टी को सरकार चलाने नहीं देंगी। आज लगातार दो बहुमत के बाद जिस ताक़त से भारतीय जनता

पार्टी केंद्र में स्थापित हुई है, उसके मूल में कहीं ना कहीं नब्बे के दशक के उत्तरार्द्ध की वह राजनैतिक-संस्कृति भी जिम्मेदार है, जिसमें भारतीय जनता पार्टी को अच्छूत समझा जाता था और वह भी नीतिगत आधार पर नहीं, बल्कि इस आधार पर कि मुसलमान उसको पसंद नहीं करते।

यों देखा जाए तो भारत के मुसलमानों को इस बात का पूरा हक है कि वो भारतीय जनता पार्टी को पसंद ना करें, क्योंकि यह मुखर रूप से हिंदू-राष्ट्रवादी पार्टी है, किंतु तब इस नापसंदगी के खुले इजहार के कुछ ऐतिहासिक, मनोवैज्ञानिक और सामुदायिक दुष्परिणाम भी हैं। भारत का स्वाधीनता संग्राम ना केवल मुस्लिम नवजागरण- जिसके केंद्रीय नायक सैयद अहमद खाँ, बदरुद्दीन तैयब, अकबर इलाहाबादी, सैफुद्दीन किचलू, अल्लामा इकबाल, अली बंधु, मौलाना आज़ाद इत्यादि थे- का स्वर्णयुग था, वह क्रौमी एकता और गंगा-जमुनी लफ़्फ़ाज़ी का भी सर्वोच्च क्षण था। भारत-विभाजन ने इन दोनों पर पलीता लगा दिया। भारत का मुसलमान राजनैतिक रूप से अत्यंत सजग है। अतीत में अयोध्या, कश्मीर, सिविल कोड और हाल में सीएए-विरोधी आंदोलनों और शाहीन बाग़ में उसने अपनी एकजुटता प्रदर्शित की है। किंतु सन् सैंतालीस में अविभाजित भारत के मुसलमानों ने लीग की भावनाओं की धरातल पर उतरकर वैसी मुखालफ़त नहीं की, जैसी करनी चाहिए थी, और पाकिस्तान और बांग्लादेश के रूप में दो इस्लामिक राष्ट्रों (सनद रहे, दो इस्लामिक राष्ट्र, दो सेकुलर राष्ट्र नहीं) के निर्माण में अपनी मौन-मुखर सम्मति दी। कलकत्ते में तो इसके लिए खून की होली भी खेली गई। मुझे नहीं मालूम, आधुनिक भारत का कोई भी इतिहास इस परिघटना और उसके मनोवैज्ञानिक-ज़ख्मों को नज़रअंदाज़ कर आगे कैसे बढ़ सकता है।

तथ्य यह है कि लड़-झगड़कर अपने पृथक इस्लामिक मुल्क ले लेने के बाद अगर भारत में शेष रह गए मुसलमान चुनावों में अपनी पसंद की पार्टी (पढ़ें, भारतीय जनता पार्टी के विरुद्ध उस विशेष चुनाव-मैदान में मौजूद सबसे ताक़तवर पार्टी) को इकट्ठा होकर वोट देंगे, तो इससे फ़िज़ाओं में क्रौमी एकता के तराने नहीं गूँजेंगे, तीखे ध्रुवीकरण का उदय होगा- क्योंकि सामुदायिक-मनोविज्ञान भय और अंदेशे से संचालित होता है और अगर कोविड-महामारी की दूसरी लहर के नियोजन में आपराधिक लापरवाही दिखाने के बावजूद भारतीय जनता पार्टी का धुर मतदाता उसके साथ बंधा हुआ है तो उसका कारण यह है कि वह स्वयं को असुरक्षित महसूस करता है (पश्चिम बंगाल में हो रही चुनाव-उपरांत हिंसा जैसी घटनाएँ ही इस असुरक्षा की आग में घी का काम करती हैं) और उसको लगता है कि नरेंद्र मोदी उनका रक्षक है। राजनैतिक विश्लेषकों से पूछा जाना चाहिए कि अगर मुसलमानों को एकजुट होकर भाजपा के खिलाफ़ वोट देने का अधिकार है तो विभाजन से चोट खाए हिंदू बहुसंख्यकों को भाजपा का धुर-समर्थक बनने का अधिकार क्यों नहीं हो सकता? अगर एक सामुदायिक-मनोविज्ञान जायज़ है तो दूसरा क्यों नहीं है?

*यह भी पूछा जाना चाहिए कि भारतीय-मुसलमानों की पोलिटिकल-एस्पिरेशंस क्या हैं? यानी वो चुनावों से क्या चाहते हैं? अपने जनप्रतिनिधि से उनकी क्या अपेक्षाएँ हैं? क्या यही कि वह भारतीय जनता पार्टी के प्रत्याशी को हरा दे? इसके अलावा कुछ नहीं? केरल में पलक्कड़ विधानसभा सीट से मेट्रो मैन ई. श्रीधरन जैसे क्राबिल व्यक्ति को हार का सामना करना पड़ा। उनके बजाय मतदाताओं ने कांग्रेस के शफी परामबिल को चुना। क्या केवल इसलिए कि श्रीधरन भारतीय जनता पार्टी के टिकट पर मैदान में उतरे थे? जब किसी देश की आबादी का इतना बड़ा हिस्सा (प्रसंगवश, मुसलमान भारत में

अल्पसंख्यक नहीं हैं, वो भारत में दूसरे सबसे बड़े बहुसंख्यक हैं- हमें अपनी राजनैतिक-शब्दावली को सुधारने की सख्त जरूरत है) केवल एक पार्टी को हराने के लिए एकजुट होकर वोट देगा- सड़क, बिजली, शिक्षा, स्वास्थ्य के मुद्दों पर नहीं- तो उस देश में एक स्वस्थ राजनैतिक संस्कृति कैसे विकसित होगी- यह प्रश्न भी मैं विद्वान चुनाव-विश्लेषकों की ओर टेल दे रहा हूँ।*

ममता बनर्जी लगातार तीसरी बार पश्चिम बंगाल की मुख्यमंत्री चुनी गईं। वह एक अस्थिर चित्त की महिला हैं और उनके व्यक्तित्व में असुरक्षा-बोध से उपजी तानाशाही वृत्तियाँ भरी हैं। वे बाँगला भद्रलोक की भी प्रतिनिधि नहीं, ना ही उन्होंने कभी सार्वजनिक-जीवन में स्वस्थ-संवाद या सुरुचिपूर्ण-लोकाचार का परिचय दिया। भाजपा की शत्रु तो वे आज हैं, इससे पहले तो वे वाम की संहारक थीं। बंगाल से सीपीआई-एम का सफ़ाया करने में उन्हीं की भूमिका है। ऐसी सर्वसत्तावादी महिला के हाथ में इतनी शक्ति होना शुभ संकेत नहीं। चुनावों के दौरान उन्होंने चोटिल हो जाने का नाटक किया और चुनाव होते ही अपनी प्रतीकात्मक व्हीलचेयर को उतार फेंका- किंतु इस दर्जे का झूठ और स्वांग और बेशर्मी किसी बुद्धिमान को विचलित नहीं करते? केवल इसलिए कि वह नरेंद्र मोदी के विरुद्ध चुनाव लड़ रही थीं?

तिस पर मेरा प्रश्न यह है कि अगर भारत के बुद्धिमान नरेंद्र मोदी को एक बुराई मानते हैं, तो क्या उनके विरुद्ध खड़ी होने वाली ताक़त इतने भर से नेक हो जाएगी? क्या यह अनिवार्य है कि आप अपनी अंतरात्मा और विवेकशीलता को गिरवी रखकर दो में से किसी एक का पक्ष लें ही? यह प्रश्न मैं अपने उन तमाम मित्रों की ओर टेल रहा हूँ, जिन्होंने कल ममता बनर्जी की जीत का जश्न ऐसे मनाया था, जैसे भारत को कोई नया उद्धारक मिला है। सुना है, 2024 में अब वे प्रधानमंत्री पद की पहली पसंद बतलाई जा रही हैं।

किंतु तथ्य यही है कि ममता बनर्जी की जीत में मुसलमानों के सम्पूर्ण-समर्थन की केंद्रीय भूमिका रही है। ये वही मुसलमान हैं, जो दिल्ली में आम आदमी पार्टी के धुर-समर्थक हैं, उत्तर प्रदेश में समाजवादी पार्टी और बिहार में राष्ट्रीय जनता दल के बंधक-मतदाता हैं, जो पहले आँख मूँदकर पंजे पर ठप्पा लगाकर आते थे, किंतु अब भाजपा के साथ आमने-सामने की लड़ाई में कांग्रेस के कमजोर पड़ जाने पर नए मोर्चे तलाश रहे हैं। अगर महाराष्ट्र के आगामी चुनावों में शिवसेना-कांग्रेस-राकांपा मिलकर चुनाव लड़ें और महाराष्ट्र के मुसलमान उद्धव ठाकरे को एकमुश्त वोट दे आएँ तो कोई भी चुनावी-विश्लेषक चकित नहीं होगा- इसे वह भारतीय-मुसलमानों की टैक्टिकल वोटिंग की परम्परा का अंग ही मानेगा। फिर यही विश्लेषक बहुसंख्यक हिंदुओं के ध्रुवीकरण को अभी तक स्वीकार क्यों नहीं कर पाया है? क्योंकि वैसी स्थिति में यह अवश्यम्भावी है, इसे कोई टाल नहीं सकता। सामुदायिक मनोविज्ञान के भय और अंधे लोकाप्रिय राजनीति को संचालित करते हैं, यकीन ना हो तो अगले साल उत्तर प्रदेश के चुनावों में देख लीजियेगा।

साभार- <https://www.facebook.com/sushobhitsuaktawatfanpage/> से